हमने कीटाणुओं के बारे में कैसे जाना?

आइजिक ऐसिमोव

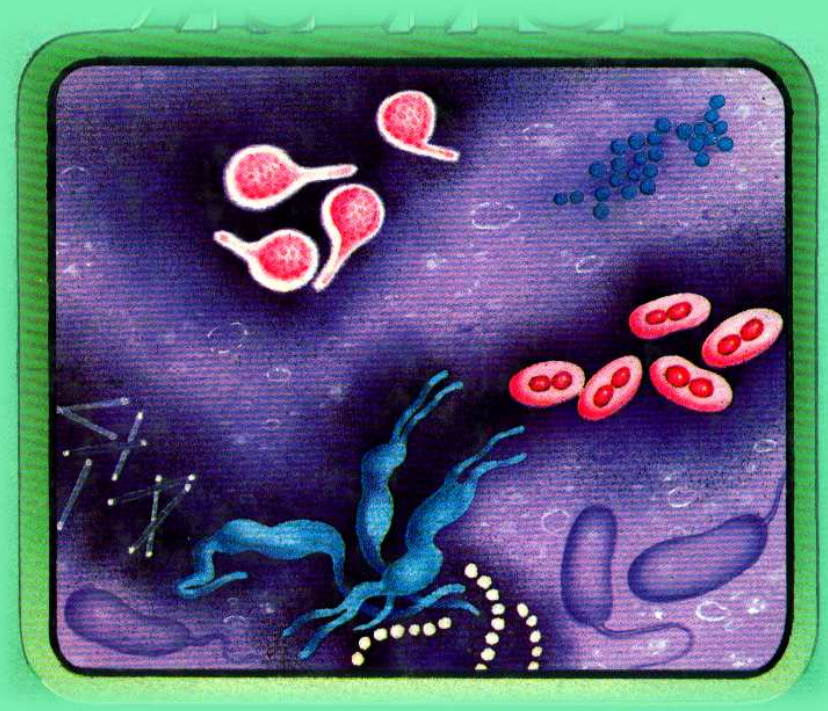

हिंदी अनुवाद: अरविन्द गुप्ता

HOW DID WE FIND OUT ABOUT GERMS?

By: Isaac Asimov
Hindi Translation : Arvind Gupta

हमने कीटाणुओं के बारे में कैसे जाना?

आइजिक ऐसिमोव

हिंदी अनुवादः अरविन्द गुप्ता

1

पुरानी लैटिन भाषा में किसी छोटी चीज से बड़ी चीज (या जीव) के विकसित होने की प्रक्रिया को 'जरमन' कहा जाता था। अंग्रेजी में इसे संक्षिप्त में 'जर्म' के नाम से जाना गया।

पर इस छोटे से 'जर्म' या नन्हें से जीव का आकार क्या होगा?

शुरू में लोगों को जीवन के बारे में बस इतना पता था कि कुछ छोटे बीजों से बड़े पेड़ पैदा होते हैं। कई बार इन बीजों को देख पाना भी मुश्किल होता था। क्या जीवन का ऐसा छोटा अवयव भी हो सकता है जिसे देख पाना भी मुश्किल हो? इसके बारे में कैसे पता करें?

हां, चीजों को कुछ बड़ा करके जरूर देखा जा सकता था। पुराने जमाने में लोग इतना जानते थे कि मुड़े कांच में से चीजें देखने पर वो बड़ी दिखती थीं।

1650 के बाद से ही वैज्ञानिकों ने मुड़े कांच के टुकड़ों से छोटी चीजों को बड़ा करके देखना और उनका अध्ययन शुरू किया। कांच के इन टुकड़ों को 'लेन्स' कहा जाता था। 'लेन्स' दरअसल लैटिन के शब्द 'लेन्टिल' से आता है - और उसका मतलब होता है 'दाल' के दाने। कांच के छोटे लेन्स असल में दाल के दानों जैसे ही दिखते हैं।

लेन्स में से देखने पर छोटे-छोटे जीव बड़े दिखाई देते हैं। अब उनके शरीर के वो हिस्से भी साफतौर पर दिखाई देते जिन्हें लेन्सों के बिना देख पाना असम्भव था।

इसके लिए अक्सर एक से अधिक लेन्स उपयोग किए जाते थे। उन्हें एक धातु की नली के विपरीत छोरों पर फिट किया जाता था जिससे कि देखते समय वो अपनी स्थिति से हिलें नहीं। इस प्रकार की नली को माइक्रोस्कोप बुलाया जाता था। यूनानी में माइक्रोस्कोप का मतलब होता है 'छोटी चीजों को देख पाना'। शुरू में छोटे-छोटे जीवों को देखा गया - खासकर पिस्सुओं को। इसी वजह से शुरुआती माइक्रोस्कोप 'पिस्सू कांच' के नाम से जाने गए।

शुरुआती माइक्रोस्कोप काफी खराब थे। लेन्सों का कांच अच्छा नहीं था। कांच में हवा के छोटे-छोटे बुलबुले होते और उनकी सतह भी चिकनी नहीं होती। इन लेन्सों में से देखी गई हर चीज
धुंधली नजर आती थी। और अगर ज्यादा शक्तिशाली लेन्सों से चीजों को बड़ा करके देखा जाता तो हर चीज इतनी धुंधली हो जाती कि वो दिखाई ही नहीं देती।

नेदरलैन्ड में अंतोन फॉन लेविनहुक लेन्सों की बेहतरी के काम में लगे थे। वो कोई वैज्ञानिक नहीं थे। बहुत कम पढ़े-लिखे थे। उनकी छोटी सी परचून की दुकान थी और वो अपने छोटे शहर में टाउन-हॉल के सदस्य थे।

उनका बस एक शौक था और वो था लेन्स बनाने का। उन्होंने सावधानी से बिना बुलबुले वाले कांच के छोटे टुकड़े चुने। फिर उन्हें प्रेम से घिसा जिससे उनकी सतह चिकनी हुई और बराबरी से मुड़ी। वैसे उनके लेन्स छोटे थे पर इन अच्छे लेन्सों से वो चीजों को दौ-सौ गुना बड़ा करके एकदम स्पष्ट देख पाए।

कुल मिलाकर लेविनहुक ने 419 माइक्रोस्कोप और लेन्स बनाए। वो उन्हें बहुत सावधानी से बनाते थे इसलिए हरेक लेन्स को घिसने में काफी समय लगता था। वो सारी जिन्दगी इस तरह मेहनत करते रहे और 90 बरस की लम्बी उम्र तक जिए।

लेविनहुक ने खुद बनाए उम्दा लेन्सों की मदद से कीड़ों, चमड़ी, खून, बाल और इसके अलावा भी उन्हें जो भी छोटी चीज दिखी उसका मुआयना किया। 1677 में उन्होंने तालाब के पानी की एक बूंद का भी अपने माइक्रोस्कोप से निरीक्षण किया। उन्हें पानी की इस बूंद में छोटी-छोटी चीजें तैरती नजर आईं।

दरअसल वो तैरती चीजें बहुत छोटी थीं - एक इंच के पचासवें हिस्से से भी छोटी। फिर भी वो तैर रही थीं और चीजों को खा रही थीं। वो जिन्दा थीं और उन्हें माइक्रोस्कोप के बिना देख पाना सम्भव नहीं था। इतनी छोटी-छोटी जीवित चीजें भी हो सकती हैं - लेविनहुक से पहले किसी ने इस बात की कल्पना तक नहीं की थी।

ऐसे छोटे जीवों को जिन्हें माइक्रोस्कोप के बिना देख पाना असम्भव है को हम 'माइक्रोआरगैनिज्म' या 'सूक्ष्मजीवी' कहते हैं। लेविनहुक, सूक्ष्मजीवी देखने वाले पहले इंसान थे। सूक्ष्मजीवी दरअसल 'सिंगिल सेल' यानि एक-कोशिका के बने होते हैं - जिसमें जीवित पदार्थ के चारों ओर एक झिल्ली होती है। मनुष्य का शरीर ऐसी करोड़ो-अरबों कोशिकाओं (सेल्स) से बनता है।

लेविनहुक ने जिन सूक्ष्मजीवियों को देखा उनका बरताव काफी कुछ जानवरों जैसा था। इसलिए उन्हें छोटे जानवर या जीव माना गया। अंत में उन्हें

'प्रोटोजोआ' – यानी 'सबसे पुराने जानवरों' का नाम दिया गया। अकेले प्रोटोजोआ को 'प्रोटोजून' बुलाया जाता है। लेविनहुक को पक्के तौर पर मालूम था कि जो सूक्ष्म प्रोटोजोआ उसने देखे वो दरअसल सबसे छोटे नहीं थे और प्रकृति में उनसे भी कहीं छोटे जीव अवश्य होंगे।

लेविनहुक द्वारा बनाए मनुष्य के मुंह में से निकले बैक्टीरिया के चित्र

Anton van Leeuwenhoek experimented with a microscope

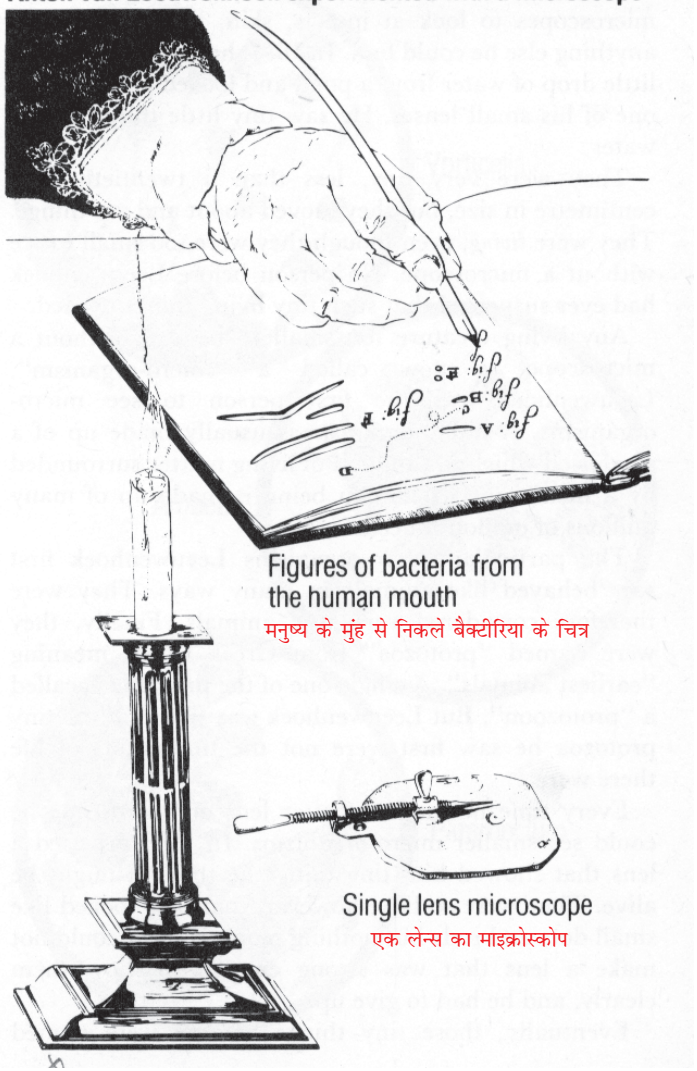

Figures of bacteria from the human mouth

मनुष्य के मुंह से निकले बैक्टीरिया के चित्र

Single lens microscope

एक लेन्स का माइक्रोस्कोप

छोटे सूक्ष्मजीवी दिखाई दिए। 1683 में उसे अपने माइक्रोस्कोप में कुछ ऐसे जीव दिखे जो उसे लगा कि जिन्दा थे। बहुत छोटे होने के कारण वो बस बिन्दियों और छड़ियों जैसे दिख रहे थे। लेविनहुक उन्हें अधिक स्पष्टता से देखने लायक एक बेहतर माइक्रोस्कोप बनाने के प्रयास में असफल रहा।

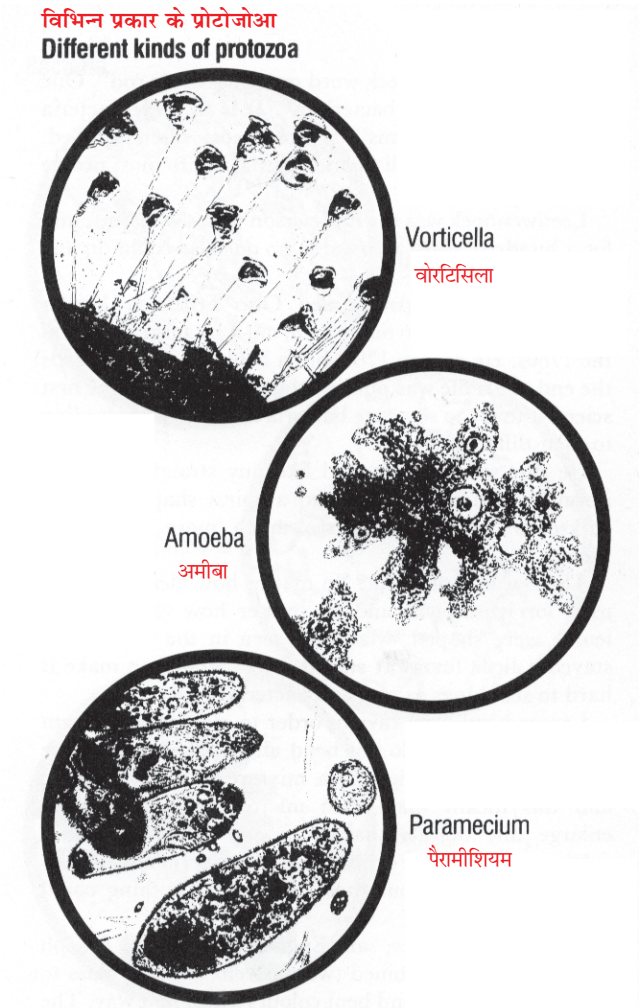

अंतत: लेविनहुक द्वारा देखे गए इन अतिसूक्ष्म जीवों को 'बैक्टीरिया'

का नाम दिया गया। यूनानी में बैक्टीरिया शब्द का मतलब होता है 'छोटी छड़'। उनमें से एक को 'बैक्टीरियम' बुलाया जाता है। इन्हीं बैक्टीरिया को आज सामान्यत: 'जर्म्स' या 'कीटाणुओं' के नाम से जाना जाता है।

लेविनहुक, कीटाणुओं को देखने वाले पहले इंसान थे। सौ बरस बाद तक भी कोई व्यक्ति सूक्ष्मजीवियों को उनसे बेहतर नहीं देख पाया।

1780 में डैनिश जीवशास्त्री औटो फ्रेडरिक मुलर इन कीटाणुओं को कुछ अधिक स्पष्टता से देख पाए। 1784 में उनका देहान्त हो गया। पर अपनी मृत्यु से पहले उन्होंने एक किताब लिखी जो 1786 में छपी। मुलर पहले वैज्ञानिक थे जिन्होंने बैक्टीरिया (जीवाणुओं) को आकृतियों के आधार पर उन्हें अलग-अलग गुटों में बांटा।

उन्हें कुछ जीवाणु छड़ों जैसे सीधे और कुछ घुमावदार पेंच जैसे दिखे। इससे अधिक स्पष्टता से मुलर भी उन्हें नहीं देख पाए।

एक समस्या लगातार बनी रही। स्पष्ट कांच के उपयोग और लेन्सों के आकार को बहुत मेहनत से ठीक-ठाक बनाने के बावजूद भी माइक्रोस्कोप से चीजें धुंधली और अस्पष्ट ही दिखती थीं। इस अस्पष्टता के रहते बैक्टीरिया (जीवाणुओं) को साफतौर पर देख पाना मुश्किल होता था।

लेन्सों से प्रकाश की किरणें मुड़ती हैं और उसके कारण ही चीजें बड़ी दिखाई देती हैं। पर लेन्सों से सभी रंग एक मात्रा में नहीं मुड़ते हैं। सफेद प्रकाश कई रंगों से मिलकर बनता है। इसलिए किसी सूक्ष्म वस्तु के निरीक्षण के समय जब माइक्रोस्कोप किसी एक रंग को स्पष्टता से मोड़ता है तो बाकी रंग धुंधले दिखते हैं। इसलिए माइक्रोस्कोप में देखे गए जीवाणुओं के चारों ओर एक रंगीन धुंध होती थी। इस समस्या का कोई हल नहीं नजर आ रहा था।

1830 में एक ब्रिटिश लेन्स मिस्त्री जोजेफ जैकसन लिस्टर ने दो अलग-अलग प्रकार के कांच को मिलाकर संयुक्त लेन्स बनाए। दोनों कांच रंगों को अलग-अलग ढंग से मोड़ते जिससे एक-दूसरे का असर रद्द हो जाता। इन संयुक्त लेन्स से हरेक छोटी वस्तु का आवर्धन के बावजूद हरेक रंग स्पष्ट दिखता। इन संयुक्त लेन्सों की वजह से वैज्ञानिक पहली बार जीवाणुओं को स्पष्टता से देख पाए।

इन संयुंक्त लेन्सों से बने माइक्रोस्कोप्स द्वारा जर्मन जीवशास्त्री फरडीनैन्ड जूलियस कोहन ने पहली बार सूक्ष्मजीवों का अध्ययन किया। उन्होंने प्रोटोजोआ के साथ-साथ पौधों जैसे एक-कोशकीय जीवों का भी अध्ययन किया। यह जीव प्रोटोजोआ जैसे इधर-उधर हिलते-डुलते नहीं थे। उनका हरा और उनके चारों ओर एक मोटी दीवार थी। आज हम इन सूक्ष्मजीवियों को काई या शैवाल

(एल्जी) के नाम से जानते हैं। समुद्री सेवार (सीवीड) में ज्यादातर काई की कोशिकाएं होती है।

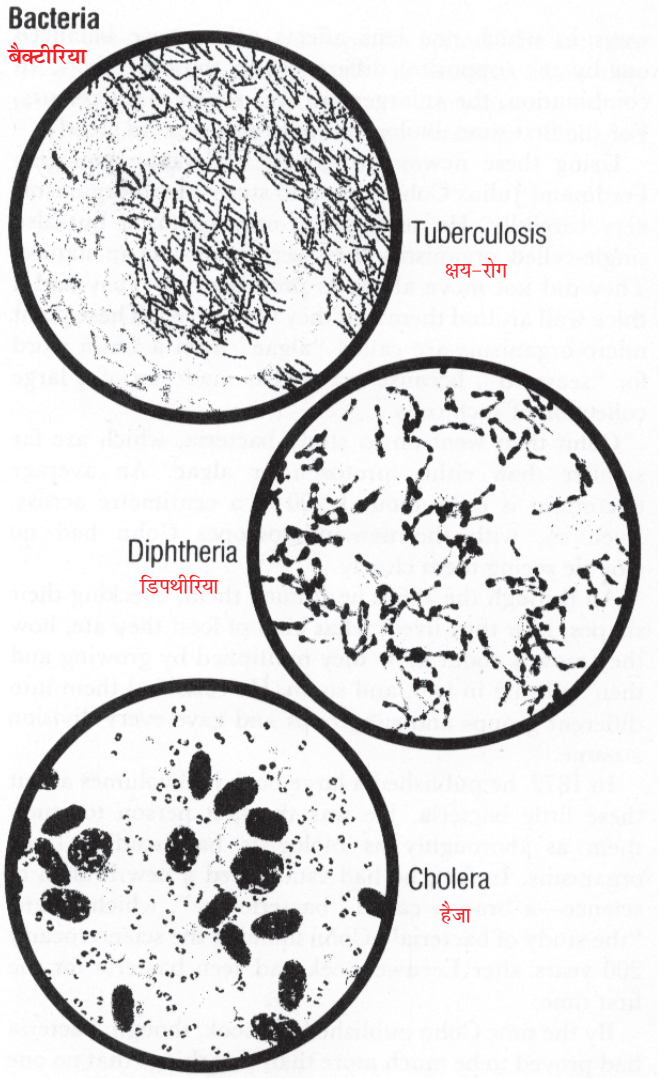

कोहन ने उसके बाद बैक्टीरिया (जीवाणुओं) का अध्ययन किया। यह जीवाणू प्रोटोजाआ या शैवाल से कहीं ज्यादा सूक्ष्म होते हैं। औसतन बैक्टीरिया का माप एक इंच का 5000वां भाग होता है। पर अपने नये माइक्रोस्कोप (सूक्ष्मदर्शी) से कोहन उन्हें स्पष्टता से देखने में कोई दिक्कत नहीं हुई।

1860 के दशक में कोहन बैक्टीरिया (जीवाणुओं) के आकार, रहन-सहन, भोजन, चलने-फिरने और प्रजनन - वो कैसे दो में विभाजित होते हैं सम्बंधी अध्ययन करते रहे। उसने उन्हें अलग-अलग समूहों और उपसमूहों में बांटा और हरेक समूह के नाम दिए।

1872 में उसने इन छोटे बैक्टीरिया (जीवाणुओं) के बारे में तीन खंडों में एक मोटी पुस्तक प्रकाशित की। कोहन पहला व्यक्ति था जिसने इन सूक्ष्मजीवों का उसी सम्पूर्णता से अध्ययन किया जैसे जीवशास्त्री बड़े जानवरों पर शोध करते हैं। उसने विज्ञान की एक नई शाखा 'बैक्टीरियालोजी' यानी बैक्टीरिया के अध्ययन की स्थापना की। लेविनहुक के पहली बार बैक्टीरिया देखने के दो सौ वर्ष बाद कोहन ने विज्ञान की यह नई शाखा स्थापित की।

कोहन की पुस्तक छपने के समय बैक्टीरिया अब सूक्ष्य अदृश्य जीव नहीं रह गए थे। हरेक कोई अब उन्हें माइक्रोस्कोप से देख सकता था। बहुत सूक्ष्म और आंखों से अदृश्य होने के बावजूद बैक्टीरिया की खोज इंसानों के लिए बहुत महत्वपूर्ण साबित हुई।

दरअसल बैक्टीरिया की खोज बहुत महत्वपूर्ण निकली और अब वैज्ञानिक उनकी उत्पत्ति के बारे में शोधकार्य करने लगे।

2 जीवाणु कहां से आते हैं?

लोग जीवाणु की उत्पत्ति के बारे में बहुत समय से अटकलें लगा रहे थे। जीवाणु कहां से आते हैं? बड़े पेड़-पौधों और जानवरों के बारे में ऐसी कोई समस्या नहीं थी। हरेक को पता था कि जानवर या तो शिशुओ को जन्म देते हैं या फिर वे अंडे सेते हैं। पेड़ अपने बीजों से जन्म लेते हैं यह सभी को मालूम था। हरेक पौधा और जानवर अपने जैसे ही अन्य पौधों और जानवरों से पैदा होता था। देवदार के पेड़ देवदार के पेड़ों से, कुत्ते दूसरे कुत्तों से, और मनुष्य अन्य मनुष्यों से पैदा होते हैं।

कीड़े-मकौड़ों की बात कुछ अलग थी। वो न जाने कहां से आते थे। कुछ लोगों के अनुसार यह सरल जीव, मृत पदार्थ से पैदा होते थे। इसको 'स्वंय:स्फूर्त प्रजनन' का सिद्धांत कहा जाता था।

जानवरों का सड़ता मांस 'स्वंय:स्फूर्त प्रजनन' का एक अच्छा उदाहरण है। न जाने कहां से सड़ते मांस पर भुनगे आ टपकते थे। कुछ लोगों के अनुसार सड़ते मांस पर यह भुनगे 'स्वंय:स्फूर्त प्रजनन' की वजह से पैदा होते थे।

1668 में एक इटालवी वैज्ञानिक फ्रैन्सिसको रैडी ने इसकी पुष्टि के लिए एक प्रयोग करने की ठानी। सड़ते मांस के आसपास हमेशा भुनगे भुनभुनाते थे। शायद भुनगों का इससे कुछ लेना-देना हो।

रैडी ने दो खुले मुंह वाले बर्तनों में ताजे मांस को सड़ने के लिए रखा। एक बर्तन के मुंह पर उसने महीन कपड़ा कसकर बांधा। दूसरे बर्तन में भुनगे आसानी से मांस पर बैठ सकते थे। भुगने दूसरे बर्तन में रखे मांस पर कपड़े के कारण नहीं जा सकते थे।

मांस के दोनों नमूने एक जैसे ही तरीके से सड़े। पर भुनगे केवल खुले नमूने में ही पैदा हुए जिसमें भुनगे मांस पर बैठ पाए। जो मांस कपड़े से सुरक्षित था उसके सड़ने के बावजूद उसमें एक भी भुगना पैदा नहीं हुआ।

इससे रैडी इस निष्कर्ष पर पहुंचा - भुनगों ने सड़ते मांस पर छोटे अंडे दिए और उन अंडो में से ही इल्लियां बाहर निकलीं। उन इल्लियों ने मांस खाया और उनसे ही बाद में भुनगे निकले बिल्कुल उसी तरह जैसे इल्लियों से तितलियां बाहर निकलती हैं।

रैडी के जमाने में माइक्रोस्कोप (सूक्ष्मदर्शी) थे। उनकी मदद से मांस में भुनगों द्वारा सेए अंडों को देखा जा सका। क्या यह सम्भव था कि सभी जीव - सभी कीड़े-मकौड़े अन्य कीड़े-मकौड़ों द्वारा सेये अंडों में से उपजे हों? मतलब

हरेक जीव, मृत पदार्थ से पैदा न होकर किसी-न-किसी अन्य जीव से ही उत्पन्न हुआ हो। क्या इसके मतलब 'स्वंय:स्फूर्त प्रजनन' की अवधारण गलत थी?

जीवशास्त्रियों ने भले ही स्वंय:स्फूर्त प्रजनन की अवधारणा को त्याग दिया हो परन्तु रैडी के प्रयोग के कुछ समय बाद ही लेविनहुक ने जीवाणुओं की खोज की। इन जीवाणुओं की बनावट सबसे सरलतम कीड़ों से भी सरल थी। इन जीवाणुओं की उत्पत्ति कैसे हुई? यह जीवाणू, कीड़ों की अपेक्षा इतने सरल थे कि शायद उनका मृत पदार्थ से पैदा होना सम्भव हो सकता था, जबकि कीड़ों का इस प्रकार प्रजनन असम्भव था। जीवशास्त्री इस विषय पर बहुत समय तक चर्चा करते रहे।

अंत में 1748 में एक ब्रिटिश जीवशास्त्री जॉन टबरविले नीडुम ने एक प्रयोग किया।

उसने मांस का शोरबा (सूप) लिया जिसमें तमाम सूक्ष्मजीवी थे। उसने इन सूक्ष्मजीवियों को खत्म करने के लिए शोरबे को चंद मिनटों तक उबाला। फिर उसने उस उबले शोरबे को एक बर्तन में डालकर सीलबंद कर दिया।

उसे पता था कि जब तक बर्तन बंद रहेगा तब तक उसमें से बाहर से सूक्ष्मजीवी नहीं घुस पायेंगे। डिब्बा खोलने पर अगर उसमें कुछ सूक्ष्मजीवी मिलेंगे तो वो शोरबे में से ही निकले होंगे।

नीडम ने सीलबंद बर्तन को कुछ दिन वैसे ही रहने दिया। जब उसने उसे खोला तो वो सूक्ष्मजीवियों से लबालब भरा था। नीडुम को इससे छोटे जीवाणुओं के स्वंय:स्फूर्त प्रजनन की अवधारण के सही होने का पक्का यकीन हो गया।

क्या नीडुम के प्रयोग से इस मामले का हमेशा के लिए समाधान हुआ? एक इतालवी जीवशास्त्री लैजारो स्पैलेनजैनी इससे असंतुष्ट थे। क्या नीडुम ने शोरबे को देर तक अच्छी तरह से उबाला था? शायद कुछ सूक्ष्मजीवी बहुत ताकतवर हों और उन्हें मारना कठिन हो। शायद नीडुम को बचे हुए जीवाणु दिखाई ही न दिए हों और कुछ दिनों में प्रजनन के बाद बर्तन में उनकी तादाद बहुत बढ़ गई हो।

1766 में स्पैलेनजैनी ने अपना परीक्षण शुरू किया। जीवाणुओं को मारने के लिए उन्हें कितनी देर तक उबालना होगा? उसने पाया कि कुछ जीवाणुओं को मारना वाकई में मुश्किल था। वो इस नतीजे पर पहुंचा कि सभी सूक्ष्मजीवियों को पूरी तरह खत्म करने के लिए शोरबे को कम-से-कम आधे घंटे तक उबालना जरूरी होगा।

उसने फिर नीडुम के प्रयोग को दुबारा दोहराया। उसने शोरबे को आधे

घंटे से भी ज्यादा समय तक अच्छी तरह उबाला और उसके बाद ही उसे बर्तन में सीलबंद किया। ऐसा करने से शोरबा बहुत दिनों तक अच्छा रहा और उसमें पहले जैसे सूक्ष्मजीवी पैदा नहीं हुए। देर तक उबालने से शोरबे में सारे सूक्ष्मजीव मर गये।

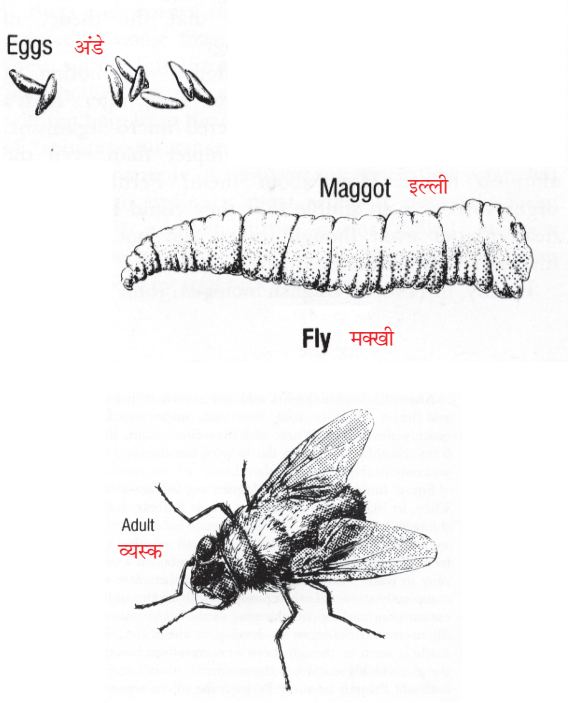

स्पैलेनजैनी के प्रयोग से स्वंय:स्फूर्त प्रजनन की अवधारण गलत लगने लगी। इससे यह स्थापित हुआ कि छोटे-छोटे सूक्ष्मजीवी भी जीवित पदार्थ के अंदर बचे हुए सूक्ष्मजीवियों से ही पैदा होते हैं।

पर इससे सभी लोग संतुष्ट नहीं हुए। कई जीवशास्त्रियों ने कहा कि प्रकृति में तो कभी इस प्रकार चीजें उबलती नहीं हैं। हो सकता है कि स्वंय:स्फूर्त प्रजनन हवा में मौजूद किसी रासायन की वजह से होता हो? शायद उबालने से वो रासायन नष्ट हो जाता हो और इसी लिए उबालने के बाद उसमें स्वंय:स्फूर्त प्रजनन न होता हो। हो सकता है कि नीडुम के उबालने से कुछ रासायन नष्ट हो गया हो। जो बचा होगा उसी से स्वंय:स्फूर्त प्रजनन हुआ होगा। स्पैलेनजैनी के बहुत देर तक उबालने से शायद पूरा रासायन नष्ट हो गया हो?

इन जीवशास्त्रियों ने दलील दी कि अगर अच्छी तरह उबले शोरबे को भी अगर ठंडी, ताजी हवा में रखा जाए तो वो भी कुछ समय पश्चात जीवाणु से भर जाएगा। वो जीवाणु आखिर कहां से आए होंगे? शोरबे में से या फिर हवा में मौजूद रासायन में से?

लगभग सौ सालों तक जीव वैज्ञानिकों में इस मसले पर जबरदस्त मतभेद रहे और चर्चाएं हुईं। 1858 में एक फ्रेंच रसायनशास्त्री लुई पाश्चर ने इस समस्या पर प्रकाश डाला।

ठंडी, ताजी हवा में बैक्टीरिया होते हैं या नहीं पाश्चर ने सबसे पहले यह जानने का प्रयास किया। उसने रुई के एक फाहे को पानी में खूब उबाला जिससे कि रुई और पानी दोनों जीवाणुमुक्त हो गए। फिर रुई के फाहे पर ताजी हवा बहाने के बाद उसे जीवाणुरहित पानी में डाला। तुरन्त पानी में जीवाणु दिखाई देने लगे। पाश्चर को ऐसा लगा जैसे हवा में मौजूद सूक्ष्म जीवाणु रुई पर चिपक गए हों।

क्या पाश्चर इस बारे में निश्चितता से कुछ कह सकता था? हो सकता है वे जीवाणु स्वंय:स्फूर्त प्रजनन द्वारा जीवाणुरहित रुई या हवा में से पैदा हुए हों? इसके परीक्षण के लिए पाश्चर ने जीवाणुरहित रुई में से हवा फिल्टर की। फिर उसने इस साफ हवा को एक और जीवाणुरहित रुई में से फिल्टर कर उसे पानी में डाला।

इस बार एक भी जीवाणु नहीं मिला। सारे जीवाणु पहली रुई से छन कर अलग हो गए और दूसरी जीवाणुमुक्त रुई और पानी में कोई जीवाणु नहीं मिला।

इस प्रकार लुई पाश्चर ने दिखाया कि जीवाणु हवा में हमारे चारों ओर धूल के कणों के साथ चिपके होते हैं। जब उबला शोरबा हवा के सम्पर्क में आता है तो वो हवा में धूल के कणों से लिपटे जीवाणुओं के सम्पर्क में भी आता है। इसी वजह से शोरबे में जीवाणु विकसित होते हैं।

उसके बाद पाश्चर ने एक और प्रयोग किया। इसमें उसने धूल विहीन ताजी, ठंडी हवा को शोरबे के सम्पर्क में लाने की सोची। अगर इस प्रयोग में कोई जीवाणु विकसित नहीं हुए तो इसका मतलब होगा कि हवा में ऐसा कोई रासायन नहीं है जो शोरबे में जीवाणु पैदा कर सके। इसका मतलब होगा कि जीवाणु केवल अन्य जीवाणुओं से ही उत्पन्न होते हैं और इससे स्वंय:स्फूर्त प्रजनन की अवधारणा गलत साबित होगी।

अपने प्रयोग ने पाश्चर ने यह किया। उन्होंने फ्लास्क को आधा शोरबे से भरा। फ्लास्क के ऊपर एक लम्बी पतली नली लगाई। यह नली हवा में पहले

ऊपर जाकर बाद में नीचे को मुड़ती थी और फिर कुछ ऊंचाई तक ऊपर जाती थी।

पाश्चर ने शोरबे को उबाला। पतली नली में से भाप निकले लगी और शोरबा गर्म होकर खौलने लगा। इससे शोरबे और कांच की नली दोनों में सभी जीवाणु नष्ट हो गए।

फिर पाश्चर से शोरबे को ठंडा होने दिया। उसने नली के सिरे को हवा में खुले रहने दिया। बाहर की ठंडी, ताजी हवा नली में से अंदर जाकर फ्लास्क में रखे शोरबे की सतह के सम्पर्क में आ सकती थी। पर धूल के कण फ्लास्क में अंदर नहीं पहुंच सकते थे। धूल के कण नली के मुड़े भाग में जाकर बैठ जाते थे। वो नली के ऊपरी ढलान पर चढ़ नहीं पाते थे।

लुई पाश्चर अपने विशेष फ्लास्कों के साथ
Louis Pasteur with his special flasks

पाश्चर ने अब शोरबे को बिना हिलाए-डुलाए वहीं रहने दिया। शोरबे को इस प्रकार कई महीने रखने के बावजूद उसके कोई जीवाणु पैदा नहीं हुए। हवा और उसमें मिले रासायन शोरबे की सतह को छूते पर धूल के कणों से चिपके जीवाणुओं के अभाव में वहां कोई जीवाणु पैदा नहीं हुए।

फिर पाश्चर ने उस फ्लास्क की नली को तोड़ा। तब शोरबे में धूल के कण गिरे और एक ही रात में फ्लास्क जीवाणुओं से भर गया।

1864 में पाश्चर ने अपने प्रयोगों और उनके नतीजों का एलान किया। अन्य वैज्ञानिकों ने उनके प्रयोग को दोहराया और उन्हें भी वही नतीजे मिले।

इससे स्वंय:स्फूर्त प्रजनन की अवधारणा हमेशा के लिए गलत साबित हुई। कोई भी पक्षी उसी प्रकार के पक्षी के अंडे से पैदा होता है, एक मक्खी उसी प्रकार की मक्खी के अंडे से उत्पन्न होती है। इसी तरह हर जीवाणु उसी जैसे अन्य जीवाणु से पैदा होता है।

इससे एक महत्वपूर्ण बात तय हुई। जब कभी पाश्चर को किसी जगह कोई ऐसा जीवाणु मिला जिसे वहां नहीं होना था, तो वो निश्चित ही कहीं और से आया होगा। और निश्चित ही वो जीवाणु उस जैसे किसी अन्य जीवाणु से ही पैदा हुआ होगा।

पाश्चर के इस ज्ञान और अन्य शोधों को विज्ञान के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण खोज माना जाता है। उनकी खोजों का सीधा असर मनुष्यों के रोग निवारण पर पड़ा।

3 रोग

बीमारियों से हरेक का वास्ता पड़ता है। किसी को नहीं पता कि वो कब और कहां बीमार पड़ जाए। लोगों की तबियत कभी भी खराब हो सकती है – उन्हें बुखार आ सकता है या फिर खुजली या खसरा हो सकता है। कभी-कभी बीमारी में लोग दम भी तोड़ देते हैं।

जब एक व्यक्ति बीमार पड़ता है तो उसके साथ-साथ अन्य लोगों को भी वो रोग लग सकता है। कुछ बीमारियां तेजी से फैल कर एक शहर, या पूरे क्षेत्र की जनता को प्रभावित कर सकती हैं। कुछ बीमारियों तो जानलेवा हो सकती हैं और तबाही मचा सकती हैं।

उदाहरण के लिए 1300 में काला-ज्वर (ब्लैक डेथ) नाम के रोग से यूरोप, एशिया और अफ्रीका में लाखों लोगों की मृत्यु हुई। मानवीय इतिहास का यह सबसे बड़ा हादसा माना जाता है जिसमें यूरोप की एक-तिहाई आबादी मारी गई।

उस समय किसी भी को भी इस रोग का कारण नहीं पता था। कुछ लोग मानते थे कि बीमारी के दौरान राक्षस और चुड़ैलें लोगों के शरीर को दबोच लेती हैं। कुछ लोग खराब, दूषित हवा को रोग का कारण मानते थे। कुछ लोग इसे अपने खराब कर्मों का फल मानते थे।

बीमारी का चाहें कुछ भी कारण रहा हो, किसी को उनके रोकथाम का कोई ज्ञान नहीं था। लोगों को यह तक नहीं पता था कि अगला काला-ज्वर कब आएगा।

यह बीमारी किसी व्यक्ति को सिर्फ एक बार आती थी। यह जरूर एक आशा का चिन्ह था। अगर किसी को चेचक या खसरा एक बार हुआ हो फिर उसे यह बीमारी कभी दुबारा नहीं होती थी। यानी मरीज में उस बीमारी से लड़ने की क्षमता पैदा हो जाती थी – वो उससे 'इम्यून' हो जाता था। बीमारी से जूझने के दौरान मरीज के जिस्म में रोग का प्रतिरोध करने की क्षमता विकसित होती और फिर बरसों तक उसे वो बीमारी नहीं होती थी।

चेचक एक ऐसी भयानक बीमारी थी जो केवल एक बार आती थी। पर उसका एक बार आना ही जानलेवा साबित होता था। ज्यादातर रोगी मर जाते थे। जो बचते उनके चेहरे छालों के दागों से हमेशा के लिए बदसूरत हो जाते थे। कभी-कभी किसी को हल्की चेचक होती जिससे चेहरे पर दाग भी कम होते। परन्तु चेचक हल्की हो या भीषण दोनों के बाद मरीज का प्रतिरोध उतना ही बढ़ता था।

यानी चेचक की बीमारी न होने से हल्की चेचक होना बेहतर था। हल्की चेचक होने के बाद मरीज सारी जिन्दगी के लिए इस बीमारी से सुरक्षित हो जाता था। हल्की चेचक न होने से इस भयावह बीमारी का डर हमेशा लगा रहता था।

लोग जानते थे कि चेचक के मरीज के सम्पर्क में आने से उन्हें भी चेचक हो सकती है। तो फिर हल्की चेचक वाले मरीज के इर्द-गिर्द रहने में ही भलाई थी। उससे आपको भी हल्की चेचक होगी और फिर आप सारी जिन्दगी उससे सुरक्षित रहेंगे। इसके लिए लोग सुई को चेचक के मरीज के छाले में डुबोकर अपनी त्वचा में खुरच लेते थे। इसे 'इनाक्यूलेशन' या टीका लेना कहते थे।

London scene during the Black Death 1348

1348 में काले ज्वर के दौरान लंडन का एक दृश्य

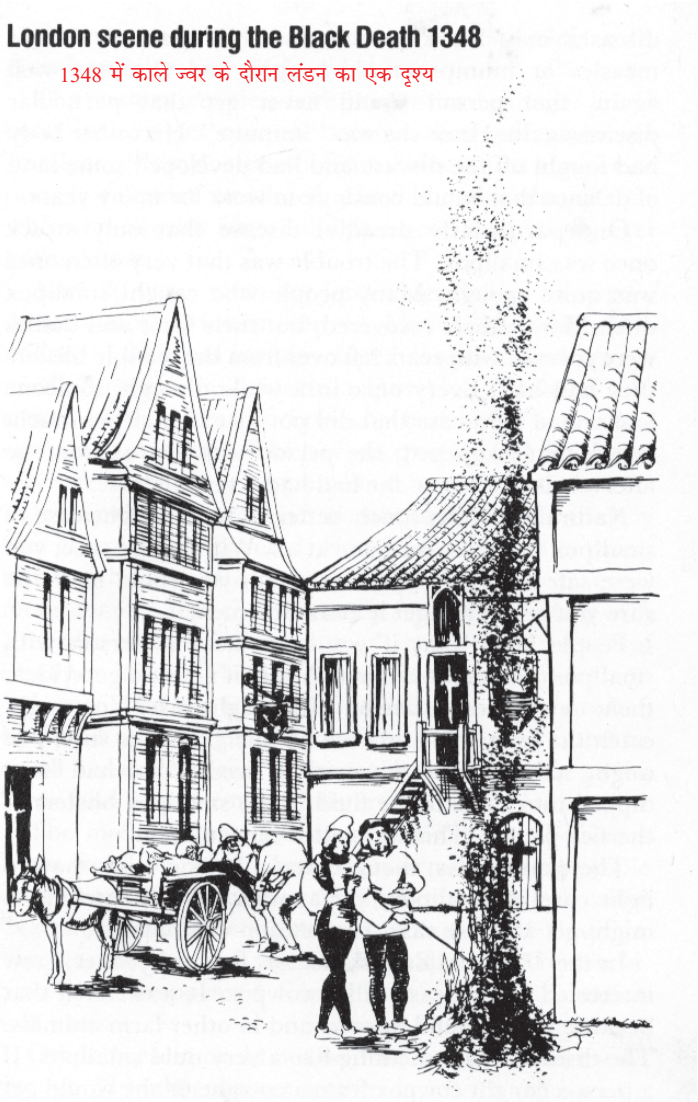

पर इसमें एक दिक्कत थी। कई बार हल्की चेचक का टीका लेने के बावजूद मरीज को भीषण चेचक हो जाती। यानी यह टीके अभी सुरक्षित नहीं थे।

1770 में एक ब्रिटिश डाक्टर एडवर्ड जेनर ने 'काओ-पॉक्स' नामक बीमारी पर शोध शुरू किया। यह बीमारी गायों और खेती में काम आने वाले अन्य जानवरों में पाई जाती थी। यह बीमारी एक प्रकार से हल्की चेचक थी। काओ-पॉक्स वाले मरीज को बस एक-दो छाले पड़ते और फिर वो ठीक हो जाता। लोगों को इस बीमारी का बिल्कुल अहसास तक नहीं होता था।

जिस ग्रामीण इलाके में जेनर रहता था वहां लोग काओ-पॉक्स की बीमारी होना शुभ मानते थे, क्योंकि उसके बाद उन्हें कभी चेचक नहीं होती थी। ज्यादातर डाक्टर इसे महज एक अंधविश्वास मानते थे। पर जेनर को इस बात पर अचरज था। उसने पाया कि खेतिहर जानवरों के साथ काम करने वाले लोगों को चेचक बहुत कम होती थी।

बीस सालों के अध्ययन के बाद जेनर ने एक खतरनाक प्रयोग करने की ठानी। 14 मई 1796 को उसे 'काओ-पॉक्स' से पीड़ित एक ग्वालिन मिली। जेनर ने सुई को ग्वालिन ने छाले के तरल में भिगोया। फिर उसने उसी सुई की नोक से एक लड़के की त्वचा को खरोचा जिसे न पहले कभी काओ-पॉक्स हुआ था और न ही चेचक। उसके बाद लड़के को काओ-पॉक्स हुआ और खरोचे स्थान पर उसे छाला पड़ा।

जेनर ने दो महीने तक इंतजार किया जिससे कि लड़का पूरी तरह स्वस्थ्य हो जाए। लड़का अब काओ-पॉक्स से 'इम्यून' हो गया था। पर क्या वो चेचक से भी सुरक्षित था? जेनर ने अब एक बड़ा खतरनाक काम किया। उसने एक सुई को चेचक के छाले वाले तरल में डुबोकर फिर से उस लड़के की त्वचा को खरोंचा। इसके बावजूद लड़के को चेचक नहीं हुई।

जेनर ने दो बरस बाद इसी प्रयोग को काओ-पॉक्स एक लड़की के साथ दोहराया। उसे दुबारा सफलता हासिल हुई। काओ-पॉक्स का टीका लगाकर वो किसी भी इंसान में चेचक की प्रतिरोध क्षमता पैदा कर सकता था।

मेडिकल भाषा में काओ-पॉक्स को 'वैक्सिनिया' कहते हैं जो लैटिन भाषा में 'गाय' के शब्द से आता है। जेनर द्वारा काओ-पॉक्स का टीका लगाकर लोगों को चेचक से बचाने का तरीका इसलिए 'वैक्सिनेशन' के नाम से जाना गया। जेनर के शोधकार्य के नतीजों के ऐलान के बाद वैक्सिनेशन या टीकाकरण का कार्यक्रम पूरी दुनिया में लागू हुआ। जहां-जहां टीके लगे वहां से चेचक लुप्त हुई।

चेचक की तरह अन्य बीमारियों को हराना सम्भव नहीं था। दूसरी किसी अन्य बीमारी के हल्के संस्करण नहीं मिलने के कारण उसने प्रतिरोधी टीके नहीं बन पाए।

टीकों पर शोध का एक लाभ अवश्य हुआ। बीमारी को एक इंसान से दूसरे में कैसे स्थांतरित करते हैं इसके बारे में लोगों की समझ बढ़ी। अगर बीमारी का स्थानांतरण किसी तरह बंद किया जा सके तो उससे शायद लोग रोगमुक्त हो जाएं।

एक हंगेरियन डाक्टर इग्नाज फिलिप जेमलवाईज निश्चित रूप से इसी दिशा में सोच रहा था। 1840 में वो एक जच्चा-बच्चा अस्पताल में काम कर रहा था जहां अक्सर महिलाएं प्रसव के दौरान आती थीं। बहुत सी महिलाएं बच्चों के जन्म के बाद मर जाती थीं। जिन महिलाओं के बच्चे घर पर जन्म लेते वो अक्सर इस तरह से नहीं मरती थीं।

एडवर्ड जेनर द्वारा दिया पहला टीका का पुतला

Statue of Edward Jenner giving the first vaccination

हैं?

जेमलवाईज इस पर विचार करने लगा। इन महिलाओं का उपचार अन्य बीमार मरीजों का इलाज करने वाले ही डाक्टर करते। घर में जो दाई प्रसव में मदद करती उनका बीमार मरीजों के साथ कोई सम्बंध नहीं होता। क्या अन्य बीमार मरीजों के रोग डाक्टरों द्वारा गर्भवती महिलाओं को स्थानांतरित हो रहे थे?

1847 में जेमलवाईज को एक अस्पताल के संचालन का काम मिला। उसने एक नियम बनाया। हर डाक्टर को मरीज के करीब आने से पहले अपने हाथों को अच्छी तरह एक रासायनिक घोल से धोना जरूरी था। स्थिति में एकदम सुधार हुआ। प्रसव के दौरान महिलाओं की मृत्यु दर एकदम कम हुई।

पर डाक्टर इससे बहुत खफा और नाराज हुए। डाक्टरों को गंध वाले रासायनों में हाथ धोना अच्छा नहीं लगता था। डाक्टर बीमारियां स्थानांतरित कर रहे थे जिससे महिलाएं मर रही थीं, यह बात भी उन्हें नहीं जंची। उनका तर्क था: हमारे हाथों में कहां बीमारी के जीवाणु हैं, हमें दिखाओ? डाक्टरों की सामूहिक ताकत की वजह से जेमलवाईज को अपना पद छोड़ना पड़ा। अब डाक्टरों ने दुबारा हाथ धोना बंद कर दिया। अब फिर से प्रसव के दौरान महिलाओं की मृत्यु पहले जैसी बढ़ गई।

पर असली समस्या क्या थी? क्या कोई अदृश्य चीज रोग फैला रही थी?

स्वंय:स्फूर्त प्रजनन की अवधारणा का खंडन करने से कुछ समय पहले लूई पाश्चर ने इस समस्या पर गम्भीरता से सोचना शुरू किया और अंतत: उसका हल खोजा।

फ्रांस का वाइन (शराब) उद्योग उस समय बड़ी समस्या में था। सामान्य अच्छी वाइन लगातार खट्टी होती जा रही थी। इससे वाइन उद्योग को करोड़ों डालर का नुकसान हो रहा था।

1856 में पाश्चर से इस समस्या की जांच करने को कहा गया। पाश्चर ने सबसे पहले वाइन का माइक्रोस्कोप से निरीक्षण किया। उसमें उसे खमीर के सूक्ष्मजीवी दिखे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। खमीर, वाइन का हिस्सा होता है। खमीर फलों के रस में पनपता है और उसकी शक्कर को शराब में बदलता है।

पर जब पाश्चर ने खट्टी वाइन का बारीकी से निरीक्षण किया तो उसमें उसे कुछ सामान्य से अलग आकार के खमीर के सूक्ष्मजीवी नजर आए। इसका मतलब खमीर के दो अलग-अलग किस्म के सूक्ष्मजीवी थे। अच्छे सूक्ष्मजीवी शक्कर को शराब में और खराब सूक्ष्मजीवी उसे अम्ल में बदलते थे।

गर्म करने से खमीर की कोशिकाएं आसानी से मर जाती हैं। पाश्चर ने वाइन बनकर तैयार होने के बाद उसे हल्के से गर्म करने का सुझाव दिया। उससे खराब खमीर की कोशिकाएं खत्म हो जातीं। अच्छा खमीर शक्कर को शराब में बदलने का काम पूरा कर चुका था और अब उसकी कोई जरूरत नहीं थी। गर्म करने से गलत

प्रकार का खमीर पहले ही नष्ट हो जाता और शक्कर को अम्ल में नहीं बदल पाता।

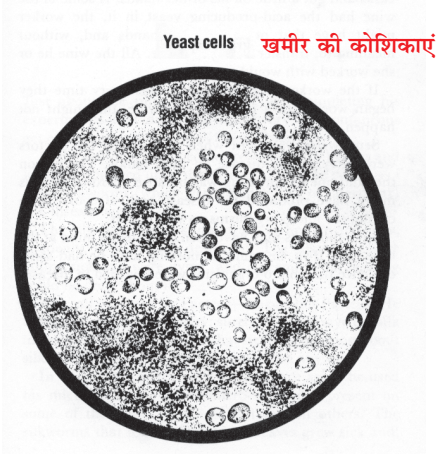

वाइन निर्माता वाइन को गम करर्ना नहीं चाहते थे। फिर भी उन्होंने प्रयोग किया और वो सफल रहा। वाइन खट्टी होना बंद हुई और उससे वाइन का उद्योग बच गया। तब से गर्म करके हानिकारक सूक्ष्मजीवियों को मारने की प्रक्रिया को 'पैश्चराईजेशन' के नाम से जाना जाता है। बड़े सुपरमारकेट्स से खरीदा दूध हमेशा पैश्चराइजड होता है।

स्वंय:स्फूर्त प्रजनन की अवधारण पूर्णत: गलत है यह पाश्चर वाइन पर शोध करके अच्छी तरह समझे थे। अगर स्वंय:स्फूर्त प्रजनन सचमुच होता तो फिर खमीर को नष्ट करने से कोई लाभ नहीं होता। वाइन में दोनों तरह के खमीर दुबारे पनपते और वाइन को खट्टा बनाते।

यह सुनिश्चित करने के बाद कि मृत पदार्थ में से कोई सूक्ष्मजीवी पैदा नहीं होते, पाश्चर अब स्वंय:स्फूर्त प्रजनन के अपने महान प्रयोग की ओर बढ़े।

वाइन पर प्रयोगों से पाश्चर समझे कि सूक्ष्मजीवियों के स्थानांतरण के दौरान भी गम्भीर समस्याएं पैदा हो सकती हैं। मिसाल के लिए आप अच्छी वाइन में थोड़ी सी खट्टी वाइन मिलाएं। अब अम्ल पैदा करने वाला खमीर पनपेगा और अच्छी वाइन जल्द ही खट्टी हो जाएगी।

अब कल्पना करें एक मजदूर की जिसके वाइन उलटते समय हाथ में कुछ वाइन लग जाती है। अगर उसके हाथ में पहले से वाइन को खट्टा करने वाला कुछ खराब खमीर लगा होगा तो कुछ समय बाद सारी अच्छी वाइन खट्टी हो जाएगी।

अगर वो वाइन की हरेक नई खेप पर काम करने से पहले हर बार अपने

हाथ धोयेगा तो शायद ऐसा नहीं होगा।

जेमलवाईज का मानना ठीक ही था कि डाक्टरों के हाथों में रोग के सूक्ष्मजीवी थे। उन्हीं जीवाणुओं से अन्य मरीजों में बीमारियां फैलती थीं। डाक्टरों को कुछ दिखाई इसलिए नहीं दिया क्योंकि छोटे सूक्ष्मजीवी आंख से दिखाई नहीं देते थे।

उस समय इस तरह के विचार जरूर पाश्चर के जहन में रहे होंगे। परन्तु कुछ भी निश्चित रूप से कहने से पहले उसे प्रमाणित करना था कि सूक्ष्मजीवियों से रोग पैदा होते थे।

4 रोगाणु और बीमारियां

जिस समय पाश्चर स्वंय:स्फूर्त प्रजनन की अवधारण का खंडन के प्रयोग कर रहे थे उसी समय फ्रांस में एक नई विपत्ति आ खड़ी हुई।

दक्षिण फ्रांस में लोग रेशम के कीड़ों को शहतूत के पत्ते खिलाते थे। कच्चे रेशम के कोवों (एक प्रकार की इल्ली) से रेशम का धागा निकाला जाता था।

रेशम का उद्योग फ्रांस के लिए बहुत महत्वपूर्ण था परन्तु वो अब नष्ट हो रहा था। रेशम के कीड़े बीमारी से मर रहे थे और इसे रोकना का कोई रास्ता नहीं दिख रहा था।

हल खोजने के लिए पाश्चर से अपील की गई। अगर पाश्चर वाइन उद्योग की समस्या को सुलझा सकते थे तो वो रेशम उद्योग की परेशानियों का भी निराकरण कर सकते थे। पाश्चर ने कहा कि वो रेशम के कीड़ों के बारे में कुछ भी नहीं जानते, पर फिर भी लोगों ने उनसे इस समस्या को सुलझाने की प्रार्थना की।

1865 में पाश्चर दक्षिण फ्रांस गए। इस बार उन्होंने दुबारा माइक्रोस्कोप का उपयोग किया। उन्हें शहतूत के कुछ पत्तों पर सूक्ष्मजीवाणु दिखे अन्य पर नहीं। जिन पत्तों पर रोग लगा था उन्हें खाने से रेशम के कीड़े बीमार पड़ जाते और उनके शरीर में वे जीवाणु मौजूद होते।

पाश्चर को इतना पक्की तरह पता था कि वे जीवाणु कीड़ों के अंदर जिन्दा हैं और पनप रहे हैं। एक छोटा जीव जो किसी बड़े जीव के अंदर पलता-पनपता है उसे 'परजीवी' (पैरासाइट) कहते हैं। यह सूक्ष्मजीवी रेशम के कीड़ों के परजीवी थे।

इसके बारे में क्या किया जा सकता था? वाइन को गर्म कर खमीर को नष्ट किया जा सकता था। उससे वाइन का कोई नुकसान नहीं होता था। पर रेशम के कीड़ों को गर्म करने से सूक्ष्मजीवीयों के साथ-साथ कीड़े भी मर जाएंगे।

शायद रोगी कीड़ों को मरना ही था। इसके अलावा और कोई चारा भी न था। बीमारी को रोकने का एक ही इलाज था - सारे रोगी कीड़ों और शहतूत की सारी

रोगी पत्तियों को नष्ट करना। रेशम के स्वस्थ्य नए कीड़ों और शहतूत की अच्छी पत्तियों से नए सिरे से शुरुआत करनी थी।

लोगों ने पाश्चर की सलाह मानी और वो अपने मुहिम में सफल हुए। रेशम उद्योग बच गया।

रेशम की कीट के विकास चरण

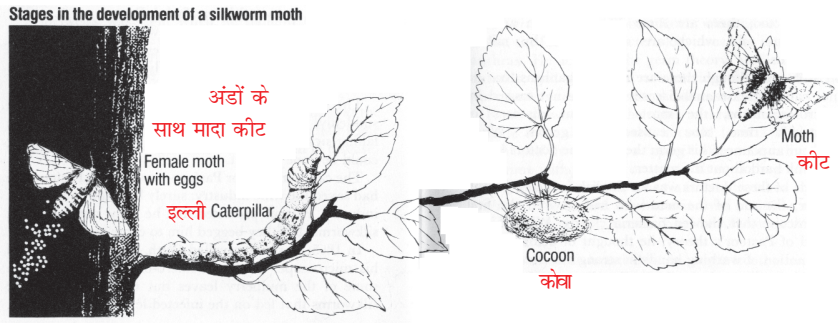

पाश्चर अब इस नतीजे पर पहुंचे – कि सूक्ष्मजीवी बीमारी पैदा कर सकते हैं। अगर रोग संक्रामक है – यानी वो एक जीव से दूसरे में फैलता है तो निश्चित ही उसका प्रसार किसी सूक्ष्मजीवी की मार्फत ही होता होगा। कोई छोटा परजीवी या पैरासाइट रोगी से स्वस्थ्य जीव में जाता है। उसके बाद स्वस्थ्य जीव भी बीमार पड़ता है।

यह सूक्ष्मजीवी खांसने या छींकने से भी फैल सकते हैं। वो हाथों और शरीर के दूसरे अंगों से भी फैल सकते हैं। वो शरीर के अपशिष्ट – मल, मूत्र, थूक आदि से भी फैल सकते हैं। यह सूक्ष्मजीवी अत्यन्त छोटे होते हैं। क्योंकि वो दिखाई नहीं देते इसलिए बीमार पड़ने के बाद ही लोगों को इनका पता चलता है।

पाश्चर ने अपने शोधकार्य का ऐलान किया जो 'रोगाणुओं से बीमारियों' के सिद्धांत के नाम से जाना गया।

रोग फैलाने वाले तमाम सूक्ष्मजीवी बैक्टीरिया होते हैं। हम उन्हें रोगाणु बुलाते हैं। पर सभी रोग रोगाणुओं से नहीं फैलते। कुछ बीमारियां खमीर, प्रोटोजोआ और अन्य सूक्ष्मजीवियों से फैलती हैं।

क्योंकि कुछ सूक्ष्मजीवी बीमारी फैलाते हैं इसका मतलब यह नहीं कि सभी सूक्ष्मजीवी हानिकारक होते हैं। दरअसल चंद सूक्ष्मजीवी ही जीवों के लिए हानिकारक होते हैं। अधिकांश सूक्ष्मजीवी पानी, मिट्टी या हवा में रहते हैं और वो कोई नुकसान नहीं पहुंचाते। उनमें से कुछ बहुत उपयोगी होते हैं। कुछ सूक्ष्मजीवी मिट्टी को उर्वर

बनाते हैं। कुछ अन्य मृत जीवों और पत्तों को सड़ाकर उन्हें रासायनों में बदलते हैं जिन्हें अन्य प्राणी और पौधे अपने विकास के लिए उपयोग करते हैं।

कुछ रोग ऐसे हैं जो संक्रामक नहीं होते और जो सूक्ष्मजीवियों द्वारा नहीं फैलते हैं।

ऐसे तमाम सूक्ष्मजीवी हैं जो रोग नहीं फैलाते और ऐसे कई रोग हैं जो सूक्ष्मजीवियों से नहीं फैलते उसके बावजूद पाश्चर के जमाने में अधिकांश बीमारियां रोगाणुओं से फैलती थीं। पाश्चर के रोगाणुओं के सिद्धांत के ऐलान के बाद कुछ डाक्टर उसके बारे में गम्भीरता से सोचने लगे।

उनमें जोजेफ लिस्टर नाम के एक अंग्रेज डाक्टर भी थे। उनके पिता ने पहला माइक्रोस्कोप बनाकर बैक्टीरिया को स्पष्ट रूप से देखा था। पाश्चर के सिद्धांत के बारे में पढ़ने के बाद लिस्टर को जेमलवाईज की बात याद आई। ताकतवर रासायनों से हाथ धोने से हाथों पर लगे सूक्ष्मजीवी नष्ट हो गए होंगे और उससे मरीजों की मृत्यु दर घटी होगी।

1867 में लिस्टर ने डाक्टरों से ताकतवर रासायनों से हाथ धोने के बाद ही आप्रेशन करने को कहा। इससे पहले आप्रेशन के सफल होने के बावजूद अक्सर मरीज बुखार से मर जाते थे। पर डाक्टरों के हाथ और उपकरणों को धोने के बाद से मरीजों का मरना बंद हो गया।

1870 में फ्रांस ने युद्ध में भाग लिया। पाश्चर एक महान देशभक्त थे और वो फौज में भर्ती होना चाहते थे पर पचास साल की उम्र होने के कारण फ्रेंच अफसरशाही ने उन्हें ऐसा न करने से रोका। वैसे भी पाश्चर का सही उपयोग लड़ाई के मैदान की बजाए प्रयोगशाला में था। अब पाश्चर अस्पतालों में काम करने लगे जहां उन्होंने जख्मी फौजियों की तीमारदारी से पहले डाक्टरों को हाथों, उपकरण और पट्टियों को उबालने के लिए बाध्य किया।

युद्ध के बाद पाश्चर 'ऐन्थ्रैक्स' नाम की बीमारी पर शोध करने लगे। यह भयानक रोग जानवरों में खासतौर पर भेड़ों को होता था। जहां मृत भेड़ों को दफनाया जाता वो जमीन पूरी तरह रोगाणुओं से भर जाती है।

जर्मन डाक्टर राबर्ट कॉच ने कोहन के साथ मिलकर जीवाणु विज्ञान की नींव रखी थी। उनकी भी 'ऐन्थ्रैक्स' रोग में रुचि थी। उन्होंने रोगाणुओं के सिद्धांत को स्वीकारा, बीमार जानवरों का अध्ययन किया और फिर रोग फैलाने वाले जीवाणु को अलग किया।

कॉच ने दिखाया कि जब ऐन्थ्रैक्स का जीवाणु जानवर के शरीर के बाहर होता है तो वो अपने इर्दगिर्द एक मोटा कवच बनाता है। इस स्थिति में उसे बीजाणु (स्पोर) कहते हैं। यह बीजाणु बिना भोजन या पानी के लम्बे अर्से तक जिन्दा रह

सकता है। इस वजह से जहां ऐन्थ्रैक्स से मरे जानवरों को दफनाया जाता था वहां ऐन्थ्रैक्स बैक्टीरिया के बीजाणु मिट्टी में जीवित रहते थे और उस मैदान की घास खाने से स्वस्थ्य जानवरों को भी यह रोग लग सकता था।

जब पाश्चर को यह पता चला तो उसने मृत जानवरों को दफनाने से पहले उन्हें जलाने का सुझाव दिया। जलाने से मृत जानवरों में रोग के बीजाणु भी पूरी तरह नष्ट हो गए।

परन्तु पाश्चर को जेनर का काम भी याद था। अगर कोई जानवर ऐन्थ्रैक्स रोग झेलने के बाद जिन्दा बचता तो उसे फिर यह बीमारी कभी न होती। अगर ऐन्थ्रैक्स से मिलता-जुलता कोई हल्का रोग होता तो उसका टीका लगने के बाद जानवरों को ऐन्थ्रैक्स की बीमारी फिर कभी नहीं होती। दुर्भाग्य से ऐसा कोई अन्य रोग नहीं मिला।

अब लोगों ने रोगाणुओं के सिद्धांत को अच्छी तरह समझ लिया था। क्या ऐन्थ्रैक्स से मिलती-जुलती किसी हल्की बीमारी को प्रयोगशाला में गढ़ना सम्भव था? पाश्चर को लगा कि यह सम्भव होगा।

पाश्चर ने ऐन्थ्रैक्स से बीमार जानवरों से कुछ जीवाणु एकत्रित किए और फिर उन्हें एक विशेष भोजन में उगाया। उसके बाद उसने कुछ जीवाणु को गर्म किया। उसने उन्हें थोड़ा ही गर्म किया जिससे पूरे नहीं बल्कि सिर्फ आधे ही जीवाणु मरें। उनमें आधे अभी जिन्दा थे पर वो कमजोर थे और आगे पनप नहीं रहे थे।

ऐन्थ्रैक्स का जीवाणु Anthrax bacteria

बीमार जानवरों को ऐन्थ्रैक्स के इन कमजोर जीवाणु का टीका लगाने से क्या होगा? जीवाणुओं के बहुत कमजोर होने के कारण टीका लगे जानवर बीमार नहीं पड़ेंगे। परन्तु इन कमजोर जीवाणुओं से लड़ते वक्त जानवरों के शरीर में इस ताकतवर बैक्टीरिया के खिलाफ एक प्रतिरोध पैदा होगा। पाश्चर ने इस प्रयोग को किया और उसमें उसे सफलता हासिल हुई।

1881 में पाश्चर ने इसके लिए एक सार्वजनिक सभा में टेस्ट किया। उसने भेड़ों के एक समूह में से केवल आधी भेड़ों को ऐन्थ्रैक्स का कमजोर टीका दिया। फिर उसने इन भेड़ों में ऐन्थ्रैक्स के खिलाफ प्रतिरोध पैदा होने के लिए कुछ दिन इंतजार किया। उसके बाद उसने भेड़ों के पूरे समूह को ताकतवर ऐन्थ्रैक्स के जीवाणुओं के इंजेक्शन दिए।

कुछ दिनो पश्चात वह सभी भेड़ें जिन्हें टीका नहीं लगा था बीमार पड़ीं और मर गयीं। पर जिन भेड़ों को टीका लगा था वो स्वस्थ्य रहीं और घास चरती रहीं।

इसके बाद से किसी की भी रोगाणु सिद्धांत के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत नहीं हुई। इस प्रयोग से डाक्टर संक्रामक रोगों को नियंत्रित करना भी सीख सकते थे।

पाश्चर के बाद राबर्ट कॉच ने रोगाणुओं से बीमारियों के फैलने पर सबसे महत्वपूर्ण शोध किया। वो बीमार लोगों और जानवरों से विभिन्न रोगों के जीवाणुओं को इकट्ठा करते और उनका अध्ययन करते।

एक समस्या थी कि उन्हें नमूनों में अक्सर कई अलग-अलग प्रकार के जीवाणु मिलते थे। उनमें से रोग फैलाने वाला जीवाणु कौन सा था यह पता करना मुश्किल काम था। इसलिए शोरबे में जीवाणुओं को उगाने की बजाए उन्होंने जेलाटिन जैसे ऐगर-ऐगर में जीवाणुओं को विकसित किया।

कॉच ने जीवाणुरहित ऐगर-ऐगर को एक चपटी तश्तरी के पेंदे में डाला। ठंडा होने के बाद ऐगर-ऐगर ठोस हो गया। फिर उसने उसकी सतह पर जीवाणुओं वाले शोरबे की कुछ बूंदें डालीं। एक स्थान पर एक जीवाणु तो दूसरी जगह कोई और जीवाणु पनपा। सभी ऐगर-ऐगर में पले और बढ़े पर उनमें से कोई भी उस ठोस पदार्थ में इधर-उधर चल-फिर नहीं पाया। अलग-अलग बैक्टीरिया भिन्न-भिन्न स्थानों पर बढ़ते और फलते-फूलते रहे। धीरे-धीरे अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग बैक्टीरियों की कॉलोनियां तैयार हो गयीं।

कॉच हरेक कॉलोनी का अलग से निरीक्षण-परीक्षण करते और इससे उन्हें उस बैक्टीरिया द्वारा पैदा होने वाले रोग का पता चल जाता। इस प्रकार कॉच ने 'ब्लैक-डेथ' यानी काला-ज्वर फैलाने वाले बैक्टीरिया का भी पता खोज निकाला।

एक बार बीमारी पैदा करने वाले रोगाणु का पता चल जाए तो फिर उस

बीमारी को रोकने वाला टीका भी बनाया जा सकता है। पाश्चर ने एक तरीका सुझाया था जिसमें बैक्टीरिया को गर्म करने से कमजोर बैक्टीरिया मिलता था। कॉच के सहायक एमिल एडाल्फ बेयरिंग ने एक दूसरा तरीका सुझाया।

अगार में बढ़ती बैक्टीरिया की फफूंद
Bacteria and moulds growing on agar

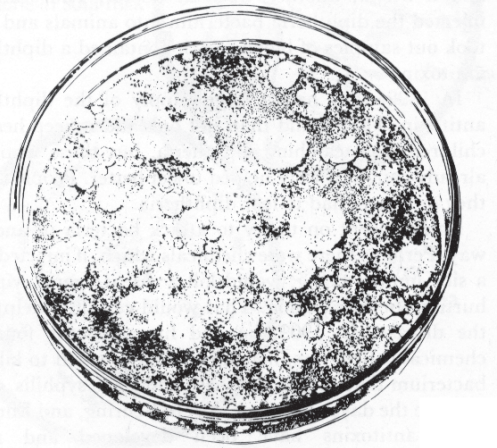

बेयरिंग ने पाया कि किसी रोग के खिलाफ प्रतिरोध हरेक जानवर के खून में केंद्रित होता है। बैक्टीरिया से खून में हल्का जहर फैलता है और उससे ही रोग पैदा होता है। इस विष को 'टॉक्सिन' कहते हैं। खून में टॉक्सिन से रक्षा एंटी-टॉक्सिन करता है। कल्पना करें ऐसे जानवर की जिसे टेटनस नामक रोग हुआ है जो कि टेटनस बैक्टीरिया से होता है। पहले तो इस जानवर का थोड़ा खून निकालें और फिर इस खून में मौजूद एंटी-टॉक्सिन को विभिन्न तरीकों से अलग करें। अब अगर इस एंटी-टॉक्सिन को एक स्वस्थ्य जानवर के शरीर में इंजेक्ट किया जाएगा तो उसमें टेटनस के रोग से लड़ने का प्रतिरोध पैदा होगा। अब अगर उस जानवर में टेटनस का बैक्टीरिया इंजेक्ट भी किया गया तो भी उसे भी बीमारी नहीं लगेगी। कुछ समय के लिए वो जानवर टेटनस से रोगमुक्त रहेगा।

क्या अन्य रोगों के लिए भी एंटी-टॉक्सिन विकसित करना सम्भव होगा? बेयरिंग इस बारे में अचरज करने लगा। उस समय बहुत से बच्चों को डिफथीरिया नाम की एक भयानक बीमारी होती थी। बेयरिंग और एक अन्य जर्मन डाक्टर पॉल एअरलिक ने पहले तो जानवरों में डिफथीरिया बैक्टीरिया इंजेक्ट किया और फिर कुछ समय बाद उनसे ही खून बाहर खींचा। इन खून के नमूनों में डिफथीरिया के एंटी-टॉक्सिन मौजूद थे।

1892 में उन्होंने प्रचुर मात्रा में डिफथीरिया एंटी-टॉक्सिन इकट्ठा किया। इससे न केवल स्वस्थ्य बच्चों में डिफथीरिया के खिलाफ प्रतिरोध बढ़ा परन्तु डिफथीरिया रोग से पीड़ित बच्चों के इलाज में भी मदद मिली। इससे पहली बार लोगों के दिल से डिफथीरिया का भय निकला।

विभिन्न प्रकार के बैक्टीरिया

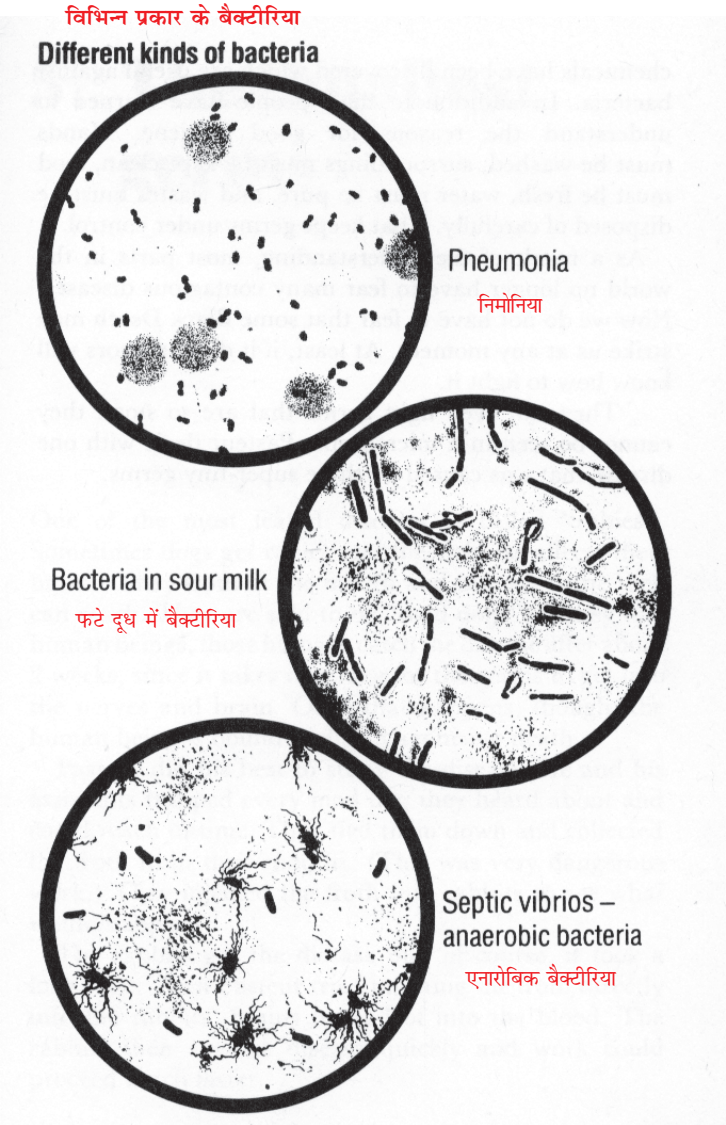

एअरलिक ने बैक्टीरिया से लड़ने के एक और तरीके की तलाश की। शायद कुछ ऐसे रासायन हों जिन्हें एक रोगी में इंजेक्ट करने पर सिर्फ बीमारी के जीवाणु मरें पर मरीज को कोई नुकसान न पहुंचे। इससे रोग के निदान में अवश्य मदद मिलेगी। 1909 में एअरलिक और उसके सहायकों ने 'आर्सफेनामीन' नामक रासायन खोज निकाला। इससे मनुष्यों में सिफलिस नाम की बीमारी के बैक्टीरिया नष्ट हो जाते थे।

पाश्चर, कॉच, बेयरिंग और एअरलिक के बाद से बैक्टीरिया नष्ट करने वाले अनेकों नए एंटी-टॉक्सिन और रासायन खोजे गए। उसके साथ-साथ लोगों को स्वच्छता और साफ-सफाई की उपयोगिता भी मालूम पड़ी है। लोगों को हाथ धोना, आसपास सफाई रखना, ताजा भोजन, स्वच्छ पानी और गंदगी को सही तरह से फेंकने का महत्व पता चला है। इससे रोगाणु काबू में रहते हैं।

रोगाणुओं की समझ के लाभकारी नतीजों के बाद से अब सारी दुनिया में बहुत से संक्रामक रोगों का भय निकल गया है। काले ज्वर से आधी आबादी का सफाया हो जाएगा यह खौफ अब मिट गया है। अगर कोई ऐसी बीमारी आई भी तो भी डाक्टरों को उससे लड़ने का रास्ता पता होगा।

आज हम उन बहुत से छोटे रोगाणुओं से भी लड़ सकते हैं जिन्हें माइक्रोस्कोप में से देख पाना भी सम्भव नहीं है। पाश्चर ने एक ऐसी ही बीमारी पहचानी थी जो बहुत छोटे रोगाणुओं से पैदा होती थी।

5 सूक्ष्मतम रोगाणु

रेबीज एक भयावह बीमारी है। कभी-कभी जब कुत्तों को रेबीज होती है तो उसका असर सीधे उनके दिमाग पर होता है। उनके मुंह से झाग निकलते हैं और वो जो भी मिलता है उसके काटने को दौड़ते हैं। इन्हें लोग 'पागल कुत्ता' कहते हैं। जब ऐसे कुत्ते किसी इंसान को काटते हैं तो उसे भी वो रोग हो जाता है। रोग के लक्षण करीब दो हफ्ते बाद नजर आते हैं क्योंकि रोग के रोगाणुओं को मस्तिष्क तक पहुंचने में इतना समय लगता है। ऐसा होने के बाद उस व्यक्ति की काफी दर्दनाक मौत होती है।

पाश्चर ने इस रोग का गहन अध्ययन किया। पाश्चर और उसके सहायक को ने जगह-जगह पर अनेकों 'पागल कुत्तों' को पकड़ा। फिर उन कुत्तों को बांध ने के बाद उनके मुंह के झाग इकट्ठे किए। यह करना एक बहुत खतरनाक काम था। उन्होंने झाग के असर को जानने के लिए उन्हें खरगोशों में इंजेक्ट किया।

अंततः खरगोशों को भी रोग लगा पर उसमें काफी समय लगा। फिर पाश्चर ने झाग को खून की धमनियों की बजाए सीधे खरगोशों के मस्तिष्क में इंजेक्ट करा।

अब खरगोशों को यह रोग बहुत जल्दी हुआ और शोधकार्य तेजी से आगे बढ़ा।

ढेरों रोगी खरगोशों के बाद क्या किया जाए? क्या एन्थरैक्स बैक्टीरिया की तरह पाश्चर इस रोग को भी कुछ हल्का बना सकता था? पाश्चर ने इसकी कोशिश की। रोग के जीवाणु खरगोशों के मस्तिष्क और रीढ़ की हड्डी में थे। पाश्चर ने रीढ़ की हड्डी को काटकर उसे थोड़ा गर्म किया। हर रोज वो नमूने में से एक टुकड़ा काटकर बाकी को गर्म करते थे।

उसके पास रीढ़ की हड्डी के बहुत से टुकड़े थे जिन्हें अलग-अलग अवधियों तक गर्म किया गया था। उसने हर टुकड़े को तरल में डुबोकर उस तरल को स्वस्थ्य खरगोशों के मस्तिष्क में इंजेक्ट किया। उसने पाया कि जितना अधिक देर टुकड़ा गर्म किया गया था उससे उतना ही हल्का रोग फैला। जो टुकड़ा दो हफ्ते तक गर्म किया गया था उससे रोग के कोई भी लक्षण पैदा नहीं हुए।

पर क्या उससे खरगोश का रोग के खिलाफ प्रतिरोध बढ़ा? पाश्चर ने खुद बनाए रेबीस के हल्के रोगाणुओं को एक स्वस्थ्य कुत्ते में इंजेक्ट किया। उसे कुछ नहीं हुआ। फिर उस कुत्ते को एक रेबीस वाले कुत्ते के साथ एक पिंजड़े में रखा गया। रोगी कुत्ते ने तुरन्त लड़ना शुरू किया और स्वस्थ्य कुत्ते को काटा। बाद में कुत्तों को अलग किया गया। कुत्ते के काटे जख्म कुछ दिनों में ठीक हो गए और उसे रेबीज भी नहीं हुई।

मनुष्यों पर यह प्रयोग कैसे किया जाए? आप किसी अच्छे भले इंसान को भला जानबूझ कर रेबीज कैसे दे सकते हैं। पर जुलाई 4, 1885 को एक नौ बरस के लड़के जोजेफ मीइस्तर को बुरी तरह एक पागल कुत्ते ने काटा। बच्चे को तुरन्त पाश्चर के पास भेजा गया।

पाश्चर को पता था कि अगर रोग तंतुओं और मस्तिष्क तक पहुंच गया तो वो बालक निश्चित ही मर जाएगा। पाश्चर के प्रयोग से जोजेफ को कोई नुकसान तो हो ही नहीं सकता था। पाश्चर को जो कुछ करना था उसे बहुत जल्दी करना था। पाश्चर ने खुद बनाये सबसे कमजोर रेबीज के रोगाणुओं को इंजेक्ट किया जिससे कि जोजेफ में रोग के खिलाफ प्रतिरोध पैदा हो सके। एक दिन बाद उसने पहले से कुछ तेज रोगाणुओं को इंजेक्ट किया। जैसे-जैसे जोजेफ के शरीर में प्रतिरोध बढ़ता गया वैसे-वैसे पाश्चर उसे और तेज रोगाणुओं के इंजेक्शन देता गया। ग्यारहवें दिन जोजेफ को सबसे शक्तिशाली रोगाणुओं का इंजेक्शन दिया गया। जोजेफ को कभी रेबीज नहीं हुई।

लुई पाश्चर के लिए एक अत्यन्त महान सफलता थी। रेबीज पर अपने शोध कार्य के दौरान पाश्चर कभी भी रेबीज रोग को उत्पन्न करने वाला रोगाणु नहीं खोज पाया।

क्या इसका मतलब था कि जीवाणुओं से पैदा होने वाले रोगों का सिद्धांत गलत था? नहीं, पाश्चर के अनुसार सिद्धांत बिल्कुल सही था। रेबीज छूने से स्थानांतरित होने वाला रोग था। और इस स्थानांतरण को करने वाला कोई तत्व होगा। शायद रेबीज का रोगाणु इतना छोटा हो कि उसे माइक्रोस्कोप से भी देख पाना असम्भव हो?

और यही बात शायद अन्य बहुत सी बीमारियों पर भी लागू होती हो। बहुत खोजने के बाद भी किसी को भी चेचक, खसरा, जुकाम आदि के रोगाणु नहीं मिले। बहुत छोटे आकार की वजह से वो दिखते ही नहीं थे।

मनुष्य के अलावा अन्य जीवों को होने वाली बीमारियों के साथ भी यह बात सच थी। मिसाल के लिए तम्बाकू के पौधों की एक बीमारी में उनके पत्ते सिकुड़कर झड़ जाते। बीमारी के बाद पत्तों पर एक तरह का जालीदार नमूना बन जाता था। तभी इस बीमारी का नाम 'तम्बाकू मोसेइक' बीमारी पड़ा।

एक रूसी वैज्ञानिक दमित्री ईवानओवस्की ने इस बीमारी के रोगाणु की तलाश की पर वो उन्हें नहीं मिला। रोगी पौधों के पत्तों के रस से स्वस्थ्य पौधों भी रोगी हो जाते। परन्तु उसके बावजूद उन्हें कभी भी रस में कोई रोगाणु नहीं दिखाई पड़ा।

ईवानओवस्की ने रस को छानने का प्रयास किया। अगर वो रस को एकदम महीन छलनी - जिसके छेदों को आंख से देख पाना मुश्किल हो से गुजरने देता तो शायद वो बहुत छोटे रोगाणुओं को भी देख पाता। तब रस का तरल छलनी से गुजर जाता और रोगाणु बच जाते। अब इस रस को छिड़कने से पौधों को रोग नहीं लगता।

ईवानओवस्की ने इसके लिए विशेष प्रकार के छोटे छेदों वाले पोर्सलेन के फिल्टर उपयोग किए। 1892 में उसने रोगी तम्बाकू की पत्तियों का रस इन फिल्टर्स से गुजारा। शायद उनसे रोगाणु जरूर रुकेंगे।

परन्तु ऐसा नहीं हुआ। छने रस को छिड़कने के बावजूद स्वस्थ्य पत्तियों में रोग पैदा होता रहा। ईवानओवस्की को अब स्पष्ट हुआ कि रोगाणु इतने छोटे थे कि वो महीन से महीन छलनी में से भी आसानी से निकल जाते थे। वो भला रोगाणु इतने छोटे कैसे हो सकते हैं? वो अचरज करने लगा कि और उसके बाद से उसने दिशा में प्रयोग करना बंद कर दिया।

1898 में डच वनस्पतिशास्त्री मारटिनुस विलिम बायरनिक ने भी बिल्कुल वैसे ही प्रयोग दोहराए। उसने भी रोग लगी तम्बाकू की पत्तियो के रस को प्रोर्सलेन फिल्टर से छाना। उसने भी पाया कि छने रस को छिड़कने से स्वस्थ्य पौधे फिर रोगी हो जाते थे।

वो कम-से-कम यह मानने के लिए तैयार था कि तम्बाकू पौधों के रोगाणु

इतने छोटे थे कि वो उसके फिल्टर में आसानी से निकल जाते थे। उसे लगा कि रोगाणु शायद पदार्थ के सबसे छोटे अवयवयों – पानी के परमाणुओं के आकार के होंगे। तभी वो पानी के साथ छलनी में से छनकर निकल गए।

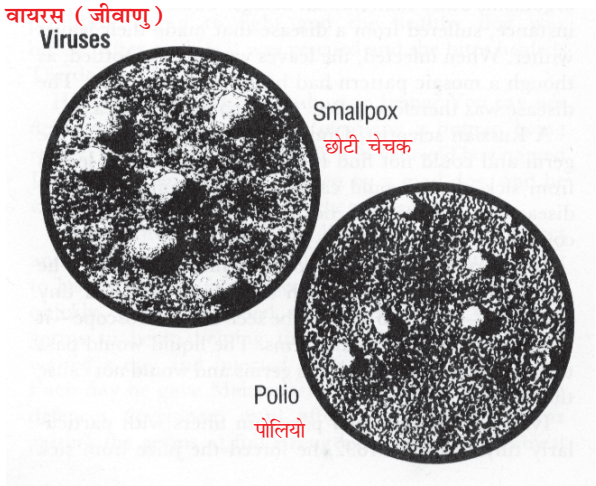

पौधों के विषैले रस को लैटिन में 'वायरस' कहते हैं। बायरनिक को ऐसा लगा जैसे रोगी तम्बाकू के पत्तों का रस स्वस्थ्य पत्तों के लिए विष का काम कर रहा हो। इसलिए उसने उन रोगाणुओं को 'वायरस' का नाम दिया। रस में मौजूद बहुत सूक्ष्म रोगाणुओं को बाद में 'वायरस' के नाम से बुलाया गया।

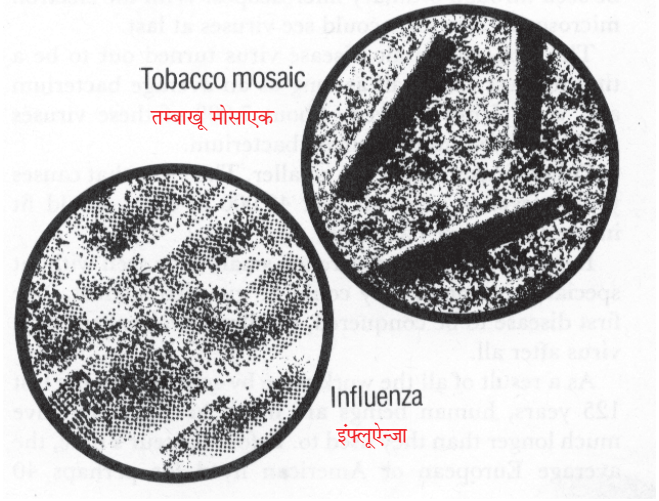

असल में यह 'वायरस' कितने बड़े थे? क्या वो लगभग पानी के परमाणुओं के माप के थे? बहुत समय तक इसके बारे में कोई भी कुछ नहीं कह सका।

1931 में ब्रिटिश वैज्ञानिक विलियम जोजेफ एलफोर्ड ने इस समस्या का हल खोजने की ठानी। क्यों न मैं छलनी के छेदों को प्रोर्सलेन से भी छोटा बनाऊं? शायद उससे 'वायरस' पकड़ में आ जाए। इसके लिए उसने 'कोलायडन' का उपयोग किया। यह एक सेलोफेन जैसी पारदर्शी झिल्ली होती है। इसमें छेदों के माप को बनाते समय छोटा-बड़ा किया जा सकता है। इसमें छेदों को छोटा, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म बनाया जा सकता है।

एलफर्ड ने वायरस के रस को दाब लगाकर 'कोलायडन' की छलनी से छाना। छलनी के छेद औसतन रोगाणुओं के एक-सौवां हिस्सा थे। 'कोलायडन' के उपयोग से छलनी में से पानी तो निकल गया परन्तु वायरस बच गया। जो पानी छलनी में से बाहर निकला उसे छिड़के से तम्बाकू के स्वस्थ्य पत्तों को रोग नहीं लगा।

इससे लगा कि वायरस का माप पानी के परमाणु से कई गुना बड़ा होगा।

1930 में नए विशेष माइक्रोस्कोप विकसित किए गए जो प्रकाश की किरण की जगह सूक्ष्म 'इलेक्ट्रांस' का उपयोग करते थे। इन 'इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोप्स' से उन सूक्ष्मतम चीजों को भी देखा जा सकता था जिन्हें साधारण माइक्रोस्कोप से देख पाना असम्भव था। 'इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोप्स' से अंतत: वैज्ञानिक वायरस को देख पाए।

तम्बाकू मोसेइक वायरस का आकार एक पतली छड़ जैसा था। वो साधारण बैक्टीरिया से लम्बाई में आधा था और बहुत पतला था। साधारण बैक्टीरिया में उस जैसे 7000 वायरस समा सकते थे।

अन्य वायरस और भी छोटे थे। पीले ज्वर (येलो-फीवर) के वायरस तो इतने छोटे थे कि 40,000 वायरस एक साधारण बैक्टीरिया में समा सकते थे।

वायरस बहुत सूक्ष्म थे, वे विशेष उपकरणों के बिना दिखते नहीं थे फिर भी उनसे सुरक्षित रहा जा सकता था। चेचक वो पहली बीमारी जिस पर मनुष्य काबू पा सका और वो एक वायरस से ही होती थी।

पिछले सवा-सौ सालों में वैज्ञानिकों के शोधकार्य के कारण आज लोगों का स्वास्थ्य ज्यादा अच्छा है और वो अधिक लम्बी उम्र जी रहे हैं। पाश्चर के समय से पूर्व यूरोप और अमरीका में लोगों की औसतन आयु मात्र 40 वर्ष की होती थी। आजकल औसत आयु करीब 70 साल है।

पाश्चर और अन्य वैज्ञानिकों के शोधकार्य की बदौलत हम में से हरेक का जीवनकाल करीब 30 साल बढ़ा है।

अंत